ShodhSamajik: Journal of Social Studies
January-June 2026 3(1)
https://shodhsamajik.com/

Original Article

ENVIRONMENTAL BALANCE AND BIODIVERSITY CONSERVATION IN THE INDIAN KNOWLEDGE TRADITION: IN THE CONTEXT OF UTTARAKHAND

भारतीय ज्ञान परंपरा में पर्यावरणीय संतुलन एवं जैव-विविधता संरक्षण: उत्तराखण्ड के सन्दर्भ में

Dalip Singh Bisht [1*]
[1] Assistant Professor and Department Head, Department of Political Science Government Postgraduate College, Agastyamuni, Rudraprayag, India

ABSTRACT

English: Indian civilization has, since ancient times, been rooted in a nature-centric worldview that upholds harmony and coexistence between human life and the environment. The principles of environmental balance and biodiversity conservation are deeply embedded in Indian knowledge traditions, particularly in the Vedic, Upanishadic, Puranic, and folk traditions, where nature is regarded as sacred, life-sustaining, and worthy of protection. Uttarakhand, endowed with rich Himalayan biodiversity and fragile ecological systems, offers a significant context for understanding these traditional ecological values. The region's folk culture, religious beliefs, festivals, rituals, and daily life practices reflect a deep sensitivity toward environmental equilibrium and sustainable living. Customs associated with forests, rivers, mountains, and local deities have historically contributed to the conservation of natural resources and the preservation of biodiversity.

This study examines the idea of environmental balance and biodiversity conservation within the framework of Indian knowledge traditions, with special reference to Uttarakhand. It highlights the role of indigenous knowledge systems and community-based cultural practices in maintaining ecological sustainability while also addressing the contemporary environmental challenges faced by the region, such as deforestation, climate change, unplanned development, and the gradual erosion of traditional wisdom. The paper argues that an integrated approach combining traditional ecological knowledge with modern environmental perspectives is essential for the sustainable preservation of Uttarakhand's delicate ecology. By revisiting Indian knowledge traditions in the contemporary context, the study contributes to broader discussions on ecological sustainability, cultural resilience, and biodiversity conservation.

Hindi: भारतीय सभ्यता प्राचीन काल से ही प्रकृति-केन्द्रित रही है, जिसमें मनुष्य और पर्यावरण के सह-अस्तित्व का भाव निहित है। वैदिक, उपनिषदिक, पौराणिक तथा लोक परंपराओं में प्रकृति के संरक्षण के सिद्धांत गहराई से प्रतिपादित हैं। उत्तराखण्ड, जो हिमालयी जैव-विविधता का धनी प्रदेश है, वहाँ की लोकसंस्कृति, धार्मिक विश्वास, पर्व-त्योहार एवं जीवन-पद्धति पर्यावरणीय संतुलन की संवेदनशीलता को अभिव्यक्त करती है। यह शोध पारंपरिक ज्ञान प्रणाली और आधुनिक पर्यावरणीय दृष्टिकोण के समन्वय की आवश्यकता को रेखांकित करता है, ताकि उत्तराखण्ड की नाजुक पारिस्थितिकी को सतत् रूप से संरक्षित किया जा सके। प्रस्तुत शोध "भारतीय ज्ञान परंपरा में पर्यावरणीय संतुलन एवं जैव-विविधता संरक्षण: उत्तराखण्ड के सन्दर्भ में" में करता है।

*Corresponding Author:
Email address: Dalip Singh Bisht (drdalipbisht@gmail.com)

Received: 14 January 2026; **Accepted:** 06 February 2026; **Published** 16 March 2026
DOI: 10.29121/ShodhSamajik.v3.i1.2026.83
Page Number: 64-70
Journal Title: ShodhSamajik: Journal of Social Studies
Journal Abbreviation: ShodhSamajik J. Soc. Stud.
Online ISSN: 3049-2319
Publisher: Granthaalayah Publications and Printers, India
Conflict of Interests: The authors declare that they have no competing interests.
Funding: This research received no specific grant from any funding agency in the public, commercial, or not-for-profit sectors.
Authors' Contributions: Each author made an equal contribution to the conception and design of the study. All authors have reviewed and approved the final version of the manuscript for publication.
Transparency: The authors affirm that this manuscript presents an honest, accurate, and transparent account of the study. All essential aspects have been included, and any deviations from the original study plan have been clearly explained. The writing process strictly adhered to established ethical standards.
Copyright: © 2026 The Author(s). This work is licensed under a Creative Commons Attribution 4.0 International License.
With the license CC-BY, authors retain the copyright, allowing anyone to download, reuse, re-print, modify, distribute, and/or copy their contribution. The work must be properly attributed to its author.

Keywords: Indian Knowledge Tradition, Environmental Balance, Biodiversity, Uttarakhand, Traditional Ecology, Chipko Movement, Sustainable Development, भारतीय ज्ञान परंपरा, पर्यावरणीय संतुलन, जैव-विविधता, उत्तराखण्ड, पारंपरिक पारिस्थितिकी, चिपको आन्दोलन, सतत विकास

प्रस्तावना

मानव सभ्यता का अस्तित्व सदैव प्रकृति पर आधारित रहा है। भारतीय दार्शनिक परंपरा में प्रकृति केवल भौतिक संसाधन नहीं, बल्कि चेतन अस्तित्व का अभिन्न अंग है। ऋग्वेद में 'माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्याः' का उद्घोष मनुष्य और पृथ्वी के आत्मीय संबंध का प्रमाण है। यही दृष्टिकोण भारतीय ज्ञान परंपरा में पर्यावरणीय संतुलन का मूल आधार बनता है। आधुनिक युग में औद्योगिकीकरण, शहरीकरण तथा उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों ने पर्यावरणीय संकट को जन्म दिया है; जलवायु परिवर्तन, जैव-विविधता का ह्रास, जलस्रोतों का प्रदूषण और वनों का क्षरण इसके उदाहरण हैं। ऐसे में भारतीय पारंपरिक ज्ञान प्रणाली पुनः एक वैकल्पिक मार्ग प्रस्तुत करती है, जहाँ सह-अस्तित्व, संयम और संरक्षण जीवन के आधारभूत मूल्य हैं।

उत्तराखण्ड राज्य, जिसे "देवभूमि" कहा जाता है, हिमालयी जैव-विविधता का केंद्र है। यहाँ के लोग सदियों से प्राकृतिक संसाधनों के साथ सहजीवी संबंध बनाकर जीवनयापन करते आए हैं। उत्तराखण्ड का यह अनुभव-आधारित पारंपरिक ज्ञान पर्यावरणीय प्रबंधन की एक उत्कृष्ट मॉडलिंग प्रस्तुत करता है।

भारतीय ज्ञान परंपरा में पर्यावरण

भारतीय ज्ञान परंपरा में पर्यावरण को मात्र भौतिक संसाधन नहीं बल्कि सजीव, चेतन और पूजनीय सत्ता के रूप में देखा गया है। वेदों, उपनिषदों, पुराणों और आयुर्वेद जैसे प्राचीन ग्रंथों में प्रकृति को "माता" और "धारित्री" कहा गया है तथा मनुष्य को उसका संरक्षक माना गया है, स्वामी नहीं। ऋग्वेद में नदियों, पर्वतों, वनों और वायु के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की गई है; अथर्ववेद में पृथ्वी को "माता" और मानव को उसका "पुत्र" कहा गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि भारतीय चिंतन मनुष्य-केंद्रित न होकर प्रकृति-केंद्रित और समन्वयवादी रहा है। पंचमहाभूत; पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के सिद्धांत में यह दर्शाया गया है कि समस्त सृष्टि एक ही तत्वात्मक स्रोत से उत्पन्न है और इन तत्त्वों में संतुलन ही जीवन के संरक्षण का आधार है। ***"प्रकृतिः पचभूतानि ग्रहाः लोकाः स्वरास्तथा। दिशः कालश्च सर्वेषां सदा कुर्वन्तु मंगलम्।।"*** अर्थात; तीनों गुणवाली प्रकृति, पाँचो तत्त्व, नवग्रह, तीनों लोक, सातों स्वर, दसों दिशाएँ, तीनों काल ये सभी सर्वदा सम्पूर्ण जगत का कल्याण करें। आयुर्वेद प्राकृतिक जीवनशैली और पारिस्थितिक संतुलन पर आधारित स्वास्थ्य-दर्शन प्रस्तुत करता है, वहीं योग और गीता मनुष्य को संयम, त्याग और प्रकृति के साथ सामंजस्य का मार्ग दिखाते हैं। वृक्षारोपण, जल संरक्षण, पवित्र वनों, पर्वतों और नदियों का देवत्वकरण जैसे सांस्कृतिक व्यवहारों के माध्यम से भारतीय समाज ने पर्यावरण संरक्षण को धार्मिक व सामाजिक आचरण का हिस्सा बनाया। नदियों के विषय में कहा गया हैं कि ***"गंगासरस्वती सिन्धुर्ब्रह्मपुत्राश्च गण्डकी। कावेरी यमुना रेवा कृष्णा गोदा महानदी।।"*** अर्थात; गंगा, सरस्वती, सिन्धु, ब्रह्मपुत्रा, गण्डकी, कावेरी, यमुना, रेवा (नर्मदा) और गोदावरी नदियाँ वन्दनीया और ध्यान योग्य हैं। इस प्रकार भारतीय ज्ञान परंपरा में पर्यावरण दृष्टि का मूल सिद्धांत है; ***"प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व, संतुलन और कृतज्ञता"***, जो आज की वैश्विक पर्यावरणीय चुनौतियों के संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक है।

वेदों में पर्यावरणीय संतुलन

वेदों में पर्यावरणीय संतुलन को मानव जीवन और प्रकृति के पारस्परिक संबंध का मूल आधार माना गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में वृक्षों, नदियों, पर्वतों और पशुओं की पूजा का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में कहा गया है; ***"धरणी मां धरेण्यम्"*** अर्थात; पृथ्वी हमारी धारण करने वाली माता है। यानि, प्रकृति को देवत्व प्रदान किया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि प्रकृति के प्रति सम्मान, संरक्षण और संतुलन बनाए रखना वेदकालीन जीवन का आवश्यक घटक था। ऋग्वेद में सूर्य, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश सहित पंचमहाभूतों को देवभाव से संबोधित किया गया है, जिससे मनुष्य यह समझ सके कि ये तत्व जीवन-दायिनी शक्तियाँ हैं और इनका संतुलन बिगड़ना संपूर्ण सृष्टि के लिए हानिकारक है। यजुर्वेद में यज्ञ को पारिस्थितिक संतुलन का प्रतीक बताया गया है; यह केवल धार्मिक कर्मकांड नहीं, बल्कि जलवायु, वर्षा, फसल और जीव-जंतुओं के परस्पर संबंधों को समझने का माध्यम था। अथर्ववेद में पृथ्वी को माता कहकर उसकी रक्षा का संकल्प व्यक्त किया गया है और यह सिखाया गया है कि पृथ्वी, पौधों, औषधियों, नदियों, पर्वतों और वनों का संरक्षण मानव का नैतिक कर्तव्य है। सामवेद में प्राकृतिक ध्वनियों और संगीत को ब्रह्मांडीय लय से जोड़कर यह दर्शाया गया है कि प्रकृति में समरूपता और समरसता ही सम्पूर्ण संतुलन का आधार है। वेदों में यह भी बार-बार कहा गया है कि जब मनुष्य लोभ, हिंसा और अति-शोषण से प्रकृति को क्षतिग्रस्त करता है, तब जल, वायु और ऋतुओं का संतुलन बिगड़ता है और समाज संकट में पड़ जाता है। इस प्रकार वेद पर्यावरणीय संतुलन के लिए संयम, संरक्षण, सहयोग और प्राकृतिक शक्तियों के प्रति सम्मान का समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, जो आज के पर्यावरणीय संकट के संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रेरणादायी है।

धार्मिक ग्रंथों में पारिस्थितिक चेतना

भारतीय धार्मिक ग्रंथों में पारिस्थितिक चेतना गहराई से निहित है, जहाँ प्रकृति को केवल भौतिक तत्व नहीं बल्कि दिव्य सत्ता का रूप माना गया है। उपनिषदों में ब्रह्म को सर्वव्यापी बताया गया है, जो पेड़ों, नदियों, पर्वतों, आकाश और प्रत्येक जीव में समान रूप से विद्यमान है; इससे यह भावना विकसित होती है कि प्रकृति के किसी भी अंश को क्षति पहुँचाना ईश्वर के अस्तित्व को चोट पहुँचाने के समान है। भगवद्गीता में ***'यज्ञ'*** की अवधारणा केवल धार्मिक कर्मकांड नहीं, बल्कि पर्यावरणीय संतुलन का प्रतीक है; ***"अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः"***। इसका तात्पर्य है कि वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है और यज्ञ (सत्कर्म) से वर्षा अर्थात; मानव आचरण और प्रकृति के बीच पारस्परिक संबंध। भगवद्गीता में कृष्ण अर्जुन को सिखाते हैं कि सृष्टि संचरण का चक्र देवताओं, प्रकृति और मनुष्य के पारस्परिक सहयोग पर आधारित है और जब मनुष्य लोभ व आसक्ति के कारण प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करता है, तब संकट उत्पन्न होता है। पुराणों में नदियों, वनों और पर्वतों का देवत्वकरण मानव को पर्यावरण के प्रति कर्तव्यबोध की ओर प्रेरित करता है। स्कन्द पुराण में नदियों की पवित्रता और संरक्षण पर विशेष बल दिया गया है, जबकि भागवत पुराण और विष्णु पुराण में पृथ्वी को ***"भू-देवी"*** के रूप में चित्रित कर बताया गया है कि पृथ्वी समस्त जीवों को धारण करती है, अतः उसके साथ हिंसा,

प्रदूषण या अति-शोषण अधर्म माना जाता है। जैन और बौद्ध ग्रंथ भी अहिंसा को केवल मनुष्य तक सीमित नहीं रखते, बल्कि सभी प्राणियों और वनस्पतियों तक विस्तारित करते हैं, जिससे जैव-विविधता संरक्षण का स्पष्ट संदेश मिलता है। इन सभी धार्मिक स्रोतों का केन्द्रीय दृष्टिकोण यह है कि मनुष्य प्रकृति का अभिभावक है, स्वामी नहीं; इसलिए संतुलन, संयम, करुणा और संरक्षण ही नैतिक जीवन का आधार है और यही पारिस्थितिक चेतना आज के पर्यावरणीय संकटों का सबसे सशक्त समाधान प्रस्तुत करती है।

आयुर्वेदिक दृष्टि

आयुर्वेदिक दृष्टि में प्रकृति और मनुष्य को एक-दूसरे से गहराई से जुड़ा हुआ माना गया है, जहाँ स्वास्थ्य का मूल आधार पर्यावरणीय संतुलन और प्राकृतिक जीवनशैली है। आयुर्वेद के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि पंचमहाभूतों; पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से बनी है और मनुष्य का शरीर भी इन्हीं तत्वों का प्रतिरूप है, इसलिए पर्यावरण में होने वाले किसी भी परिवर्तन का सीधा प्रभाव मानव स्वास्थ्य पर पड़ता है। यही कारण है कि आयुर्वेद ***"ऋतुचक्र"*** और ***"दिनचर्या"*** जैसे सिद्धांतों के माध्यम से मनुष्य को प्रकृति की गति के अनुरूप जीवन जीने की प्रेरणा देता है। इसमें पौधों, औषधियों, जल, वायु और सूर्य को जीवन-दायी शक्तियाँ बताया गया है, जिनकी शुद्धता और संतुलन स्वास्थ्य की रक्षा करते हैं। आयुर्वेद प्राकृतिक आहार, स्वच्छ जल, निर्मल वायु, संतुलित मौसम और हरित पर्यावरण को स्वास्थ्य के आवश्यक स्तंभ मानता है और प्रदूषण, रासायनिक पदार्थों, अनियमित दिनचर्या तथा प्रकृति-विरोधी व्यवहार को रोगों का मूल कारण बताता है। आयुर्वेदिक ग्रंथों में औषधीय पौधों की विविधता, वन संरक्षण, पशु-पक्षी और पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, जिससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतीय चिकित्सा केवल शरीर के उपचार तक सीमित नहीं थी, बल्कि समूची प्रकृति और मनुष्य के संतुलित संबंध को स्वस्थ जीवन की आधारशिला मानती थी। इस प्रकार आयुर्वेदिक दृष्टि एक समग्र, पर्यावरण-सम्मत और जीवन-दर्शन से पूर्ण प्रणाली है, जो आज के पर्यावरणीय संकटों और जीवनशैली जनित रोगों के समाधान में विशेष प्रासंगिकता रखती है। आयुर्वेद में ***"स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम् "*** के साथ-साथ पर्यावरणीय शुद्धता पर बल दिया गया है। वृक्षों और औषधियों को ***'जीव'*** रूप में देखा गया है, जो मानव कल्याण का स्रोत हैं।

पारंपरिक पारिस्थितिकी ज्ञान

पारंपरिक पारिस्थितिकी ज्ञान वह ज्ञान-प्रणाली है जो सदियों से स्थानीय समुदायों, जनजातियों और ग्रामीण समाजों द्वारा प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष अनुभव, सतत अवलोकन और व्यवहारिक प्रयोगों के माध्यम से विकसित की गई है। इस ज्ञान में पर्यावरण के प्रत्येक घटक; जंगल, मिट्टी, जल, मौसम, बीज, पशु-पक्षी और औषधीय पौधों के बारे में गहरी समझ शामिल होती है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परंपरा, लोककथाओं, अनुष्ठानों और सामुदायिक व्यवहारों के माध्यम से आगे बढ़ती है। आदिवासी समुदायों का वन प्रबंधन, जल संरक्षण के पारंपरिक तरीक़े, वर्षा पूर्वानुमान की लोक-चेतना, बीज संरक्षण के स्वदेशी तरीके, मिट्टी की उपजाऊ क्षमता को बनाए रखने वाली जैविक कृषि—ये सभी पारंपरिक पारिस्थितिकी ज्ञान की समृद्ध धरोहर हैं। इसमें प्रकृति को केवल संसाधन नहीं, बल्कि जीवन का अभिन्न अंग और सह-अस्तित्व का सहभागी माना जाता है। इसलिए यह ज्ञान अति-शोषण से बचने, संसाधनों के संतुलित उपयोग, जैव-विविधता के संरक्षण और पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखने पर बल देता है। आधुनिक वैज्ञानिक पर्यावरण-चिंतन आज जिस स्थिरता, संरक्षण और पुनरुत्पादन की बात करता है, वह सदियों से इस पारंपरिक ज्ञान में निहित है। इस प्रकार पारंपरिक पारिस्थितिकी ज्ञान न केवल सांस्कृतिक विरासत है, बल्कि पर्यावरणीय संकटों के समाधान का एक व्यवहारिक और स्थायी मार्ग भी प्रस्तुत करता है।

भारतीय ग्राम्य और जनजातीय समाजों ने पर्यावरणीय प्रबंधन की एक स्वाभाविक प्रणाली विकसित की; जैसे जल-संरक्षण के लिए ***'खाल', 'चाल'*** और ***'नौला'*** प्रणाली, वनों के लिए सामुदायिक नियम तथा जैव-विविधता संरक्षण हेतु पवित्र वनों की परंपरा।

यह ज्ञान सतत विकास की आधुनिक अवधारणा से कहीं पहले अस्तित्व में था। इसका आधार था; ***"लोका: समस्ता: सुखिनो भवन्तु"***, अर्थात सभी जीवों का कल्याण।

भौगोलिक और जैव-विविधता परिदृश्य

भौगोलिक और जैव-विविधता परिदृश्य किसी भी क्षेत्र की प्राकृतिक पहचान, पर्यावरणीय संतुलन और पारिस्थितिक संपन्नता को निर्धारित करने वाले सबसे महत्वपूर्ण घटक हैं। किसी देश या क्षेत्र की स्थलाकृति; जैसे पर्वत, पठार, मैदान, रेगिस्तान, तटीय क्षेत्र और द्वीप—वहाँ के जलवायु, मिट्टी, जलस्रोतों और वनस्पतियों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है, जिसके परिणामस्वरूप विविध प्रकार की पारिस्थितिक तंत्र विकसित होते हैं। उदाहरण के लिए, पर्वतीय क्षेत्रों में हिमालय जैसे विशाल जैव-क्षेत्रों में अल्पाइन घासभूमियाँ, शंकुधारी वन और अद्वितीय औषधीय पौधों की भरपूरता देखने को मिलती है, जबकि तटीय और समुद्री इलाकों में मैंग्रोव, प्रवाल भित्तियाँ और विशेष समुद्री जीव-जंतु जैव-विविधता का आधार बनाते हैं। मैदानों और नदी-घाटियों में उपजाऊ मिट्टी और समृद्ध कृषि तंत्र पाए जाते हैं, वहीं शुष्क और अर्ध-शुष्क क्षेत्रों में कठोर परिस्थितियों के अनुकूल विशेष वनस्पतियाँ और वन्यजीव विकसित हुए हैं। इन सभी विविध भौगोलिक क्षेत्रों के कारण जैव-विविधता का समृद्ध ताना-बाना निर्मित होता है, जिसमें सूक्ष्म जीवाणुओं से लेकर बड़े स्तनधारियों तक और घासों से लेकर विशाल वृक्षों तक असंख्य प्रजातियाँ शामिल होती हैं। जैव-विविधता केवल पर्यावरण का सौंदर्य ही नहीं बढ़ाती, बल्कि जीवन-चक्र, खाद्य-श्रृंखला, जल-चक्र, जलवायु संतुलन और पारिस्थितिक स्थिरता को भी बनाए रखती है। इसलिए भौगोलिक और जैव-विविधता परिदृश्य किसी भी सभ्यता की पर्यावरणीय समृद्धि, सांस्कृतिक पहचान और सतत भविष्य की नींव माने जाते हैं।

उत्तराखण्ड हिमालयी क्षेत्र का हिस्सा है, जहाँ ऊँचाई के अनुसार विविध जैव-क्षेत्र पाए जाते हैं; उष्णकटिबंधीय घाटियों से लेकर शीतोष्ण व अल्पाइन पर्वतीय क्षेत्र तक। यहाँ विभिन्न पुष्पीय पौधों की प्रजातियाँ, अनेक दुर्लभ पशु-पक्षी (जैसे हिम तेंदुआ, कस्तूरी मृग, मोनाल, काला भालू) और औषधीय पौधों का भंडार पाया जाता

है। यह प्रदेश गंगा और यमुना जैसी महान नदियों का उद्गम स्थल है, जो भारत की जीवन-रेखा है। इसलिए उत्तराखण्ड का पर्यावरणीय संतुलन केवल स्थानीय नहीं, राष्ट्रीय महत्व का विषय है।

लोक संस्कृति और पर्यावरणीय चेतना

लोक संस्कृति और पर्यावरणीय चेतना एक-दूसरे से गहरे रूप से जुड़े हुए हैं, क्योंकि लोक परंपराएँ सदियों से प्रकृति के साथ मानव के प्रत्यक्ष और संवेदनशील संबंधों को अभिव्यक्त करती रही हैं। लोकगीतों, लोककथाओं, त्योहारों, नृत्यों, कहावतों और रीति-रिवाजों में पर्यावरण के प्रति सम्मान, कृतज्ञता और संरक्षण की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। किसानों के गीत वर्षा, फसलों और ऋतुओं के अनुसार गाए जाते हैं, जिनमें प्रकृति की लय के साथ तालमेल बिठाने का संदेश छिपा होता है। अनेक लोक पर्व; जैसे वट-सावित्री, बसंतोत्सव, छठ पूजा, कुष्मांडा पूजा और वृक्ष-पूजन परंपराएँ—वनस्पतियों, नदियों, सूर्य और भूमि को जीवंत सत्ता मानकर उनकी आराधना करते हैं, जिससे पर्यावरण संरक्षण सामाजिक-धार्मिक कर्तव्य बन जाता है। जनजातीय संस्कृतियों में पवित्र वनों, जल-स्रोतों की पवित्रता और पशु-पक्षियों के प्रति अहिंसा जैसी परंपराएँ पारिस्थितिक संतुलन की उत्कृष्ट मिसालें प्रस्तुत करती हैं। लोककथाओं में पहाड़, नदियाँ, पेड़ और जानवर चरित्र बनकर नैतिक संदेश देते हैं कि प्रकृति को नुकसान पहुँचाना सामाजिक और आध्यात्मिक दोनों रूपों में अनुचित है। लोक कला; जैसे मधुबनी, वारली, गोंड और पिथौरागढ़ पेंटिंग में वृक्षों, जानवरों और ब्रह्मांडीय तत्वों को विशेष स्थान मिलता है, जो मनुष्य और प्रकृति के अविभाज्य संबंध को दृश्य रूप में प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार लोक संस्कृति न केवल समुदायों की पहचान और परंपरा को संरक्षित करती है, बल्कि पर्यावरणीय चेतना को जीवंत रखकर प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व, सम्मान और संरक्षण की सीख भी देती है, जो आधुनिक पर्यावरणीय संकटों के संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक है।

उत्तराखण्ड की लोकसंस्कृति प्रकृति से गहरे रूप से जुड़ी है। यहाँ पर्वतों, नदियों, वृक्षों और पशुओं को देवता रूप में पूजने की परंपरा है; जैसे नागदेवता, भैरवदेवता, बुरांश देवी, आदि। स्थानीय गीतों, लोककथाओं और उत्सवों में पर्यावरणीय संरक्षण का संदेश निहित है। ***'हरेला'*** पर्व इसका प्रमुख उदाहरण है, जिसमें लोग पौधरोपण करते हैं और धरती माता का आशीर्वाद मांगते हैं। इसी प्रकार ***'म्यार', 'बग्वाल'*** और ***'नन्दा देवी राजजात यात्रा'*** जैसी परंपराएँ मानव और प्रकृति के सामंजस्य की प्रतीक हैं।

चिपको आन्दोलन: पारंपरिक चेतना का आधुनिक रूप

चिपको आन्दोलन भारतीय पर्यावरण इतिहास में वह महत्वपूर्ण अध्याय है, जिसने पारंपरिक पर्यावरणीय चेतना को आधुनिक रूप देकर वैश्विक स्तर पर एक नई मिसाल स्थापित की। 1970 के दशक में उत्तराखंड (तत्कालीन उत्तर प्रदेश) के पहाड़ी क्षेत्रों में आरंभ हुआ यह आन्दोलन केवल पेड़ों को बचाने के लिए नहीं था, बल्कि मनुष्य और प्रकृति के सह-अस्तित्व की उस सदियों पुरानी लोक-परंपरा का पुनर्जागरण था, जिसमें जंगल को जीवन, जल और आजीविका का आधार माना जाता रहा है। गाँवों की महिलाओं, विशेषकर गौरा देवी के नेतृत्व में लोगों ने पेड़ों से लिपटकर सरकारी और ठेका आधारित वनों की कटाई को रोकने का अहिंसक प्रयास किया, इसी कारण इसे ***"चिपको"***; अर्थात् पेड़ों से चिपककर रक्षा करने वाला आन्दोलन नाम मिला। यह आन्दोलन पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान से प्रेरित था, क्योंकि पहाड़ी समुदाय भली-भाँति जानते थे कि जंगलों के नष्ट होने का अर्थ है जलस्रोतों का सूखना, भूस्खलन बढ़ना, कृषि का संकट और जीवन का असंतुलन। इस आंदोलन ने पर्यावरण संरक्षण को जनआंदोलन का रूप दिया और यह सिद्ध किया कि सचेत जन-भागीदारी प्राकृतिक संपदाओं की रक्षा का सबसे प्रभावी माध्यम है। चिपको आन्दोलन ने आधुनिक विकास मॉडल को चुनौती देते हुए यह संदेश दिया कि आर्थिक प्रगति प्रकृति-विनाश की कीमत पर नहीं होनी चाहिए, बल्कि पारिस्थितिक संतुलन और सामुदायिक अधिकारों को सम्मानित करने वाली संवेदनशील नीतियाँ ही टिकाऊ विकास का मार्ग हैं। इस प्रकार चिपको आन्दोलन परंपरा और आधुनिकता के संगम का वह सशक्त उदाहरण है, जिसने स्थानीय चेतना को वैश्विक पर्यावरणीय विमर्श का प्रेरक बल बनाया।

1970 के दशक में अलकनन्दा घाटी में आरंभ हुआ चिपको आन्दोलन उत्तराखण्ड की महिलाओं और ग्रामीण समुदायों द्वारा चलाया गया पर्यावरणीय जन-आन्दोलन था। इस आन्दोलन का मूल दर्शन भारतीय ज्ञान परंपरा से ही प्रेरित था; ***"वृक्ष हमारे भाई हैं, इन्हें काटना पाप है।"*** गौरा देवी, सुंदरलाल बहुगुणा, चण्डी प्रसाद भट्ट जैसे लोगों ने यह संदेश दिया कि जंगल केवल लकड़ी नहीं, बल्कि जल, जीवन और जननी का प्रतीक है। यह आन्दोलन आधुनिक पर्यावरणीय चेतना के साथ-साथ भारतीय पारंपरिक दृष्टि के पुनर्जागरण का उदाहरण बना।

भारतीय पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक पर्यावरण विज्ञान

भारतीय पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक पर्यावरण विज्ञान का सामंजस्य यह दर्शाता है कि प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता, संरक्षण और संतुलन की अवधारणा केवल आधुनिक वैज्ञानिक सोच का हिस्सा नहीं, बल्कि भारत की हजारों वर्षों पुरानी सांस्कृतिक और ज्ञान-परंपरा में गहराई से निहित है। पारंपरिक ज्ञान; जैसे वेदों में वर्णित पर्यावरणीय जिम्मेदारी, आयुर्वेद का पंचमहाभूत आधारित जीवन-दर्शन, लोक संस्कृतियों की प्रकृति-सम्मत जीवनशैली तथा जनजातीय समुदायों की टिकाऊ संसाधन-प्रबंधन प्रणालियाँ; आज के वैज्ञानिक पर्यावरण अध्ययन के अनेक सिद्धांतों से मेल खाती हैं। आधुनिक पर्यावरण विज्ञान जैव-विविधता संरक्षण, पारिस्थितिकी, स्थिरता, नवीकरणीय संसाधनों के उपयोग और जलवायु संतुलन पर ज़ोर देता है, वहीं भारतीय पारंपरिक ज्ञान भी प्रकृति के समग्र संरक्षण, संसाधनों के संयमित उपयोग और जीवन को पर्यावरण की लय के अनुरूप ढालने की आवश्यकता पर बल देता है। आधुनिक विज्ञान जहाँ डेटा, अनुसंधान और तकनीक के माध्यम से समाधान प्रस्तुत करता है, वहीं पारंपरिक ज्ञान सामाजिक आचरण, सांस्कृतिक मूल्यों और सामुदायिक स्वशासन के माध्यम से प्रकृति के प्रति नैतिक जिम्मेदारी को मजबूत बनाता है। जब दोनों का समन्वय होता है; जैसे जैविक खेती, जल-संरक्षण के पारंपरिक और आधुनिक मॉडल, औषधीय पौधों पर आधारित विज्ञान, सामुदायिक वन-प्रबंधन और जलवायु परिवर्तन के स्थानीय अनुकूलन उपाय—तो पर्यावरण संरक्षण के अधिक प्रभावी और स्थायी परिणाम सामने आते हैं। इसलिए भारतीय पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक पर्यावरण विज्ञान का सामंजस्य न केवल पर्यावरणीय संकटों से निपटने का सर्वोत्तम मार्ग है, बल्कि यह वैश्विक स्थिरता के लिए भी प्रेरणादायी मॉडल प्रस्तुत करता है।

भारतीय ज्ञान परंपरा पर्यावरणीय संतुलन को नैतिक और आध्यात्मिक दायित्व के रूप में देखती है, जबकि आधुनिक विज्ञान इसे प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन के रूप में परिभाषित करता है। इन दोनों दृष्टिकोणों के बीच समन्वय आवश्यक है। उदाहरण के लिए, हिमालयी क्षेत्र में वाटरशेड प्रबंधन की आधुनिक तकनीकों को पारंपरिक जल-संरक्षण प्रणालियों (जैसे चाल-खाल) के साथ मिलाकर अधिक प्रभावी परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं। इसी प्रकार, सामुदायिक वन पंचायतों के पारंपरिक मॉडल को आधुनिक नीति-निर्माण में सम्मिलित किया जा सकता है।

लोक-ज्ञान पर आधारित जैव-विविधता संरक्षण

लोक-ज्ञान पर आधारित जैव-विविधता संरक्षण उन पारंपरिक, स्थानीय और अनुभवजन्य ज्ञान-प्रणालियों पर आधारित है, जिन्हें पीढ़ियों से समुदायों ने प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष संपर्क और जीवन-व्यवहार के माध्यम से विकसित किया है। यह ज्ञान प्राकृतिक संसाधनों के सतत उपयोग, संरक्षण और पुनरुत्पादन पर केंद्रित होता है, जहाँ पौधों, जानवरों, जलस्रोतों, वनभूमियों और भूमि की पारिस्थितिकी को एक सजीव और परस्पर निर्भर तंत्र के रूप में समझा जाता है। आदिवासी और ग्रामीण समुदायों द्वारा संरक्षित पवित्र वन, पारंपरिक बीज संरक्षण की विधियाँ, औषधीय पौधों का संवर्धन, चराई के स्थानीय नियम, जलस्रोतों की सामुदायिक निगरानी तथा शिकार और कटाई के नैतिक प्रतिबंध; ये सभी जैव-विविधता को सुरक्षित रखने की उत्कृष्ट लोक-परंपराएँ हैं। लोक-ज्ञान में यह स्पष्ट दृष्टि पाई जाती है कि संसाधन प्रकृति का उपहार हैं और उनका दुरुपयोग या अति-शोषण पूरे पारिस्थितिक तंत्र को नुकसान पहुँचा सकता है। इसलिए यह ज्ञान समुदायों को संतुलित उपयोग, समयबद्ध दोहन, संरक्षण-आधारित प्रबंधन और पर्यावरणीय नैतिकता का पालन करने के लिए प्रेरित करता है। आधुनिक वैज्ञानिक शोध भी यह स्वीकार करता है कि स्थानीय समुदायों के पास प्रजातियों की पहचान, उनके औषधीय गुण, जलवायु-अनुकूल कृषि और पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखने के प्रभावी तरीकों का गहन ज्ञान होता है। इन लोक-आधारित प्रणालियों को वैज्ञानिक पद्धतियों के साथ जोड़कर जैव-विविधता संरक्षण के लिए अधिक सशक्त, टिकाऊ और समुदाय-केंद्रित मॉडल विकसित किए जा सकते हैं। इस प्रकार लोक-ज्ञान न केवल सांस्कृतिक धरोहर है, बल्कि जैव-विविधता संरक्षण का व्यवहारिक, नैतिक और स्थायी आधार भी है।

उत्तराखण्ड में ग्रामवासी और महिलाएँ स्थानीय पौधों, औषधियों और पशुओं के बारे में गहरा अनुभवजन्य ज्ञान रखती हैं। यह ज्ञान पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक रूप से संचित हुआ है। उदाहरणतः, बुरांश, काफल, हिसालू और रिंगाल जैसी प्रजातियाँ केवल भोजन या ईंधन नहीं, बल्कि पारिस्थितिक तंत्र के संतुलन का अभिन्न भाग हैं। इस लोक-ज्ञान को वैज्ञानिक रूप से प्रलेखित कर बायोकल्चरल रजिस्ट्री तैयार करना जैव-विविधता संरक्षण की दिशा में उपयोगी कदम हो सकता है।

वर्तमान चुनौतियाँ: वर्तमान में उत्तराखण्ड अनेक पर्यावरणीय चुनौतियों का सामना कर रहा है —

वनों का अनियंत्रित दोहन और भूमि-क्षरण:

उत्तराखंड में वनों का अनियंत्रित दोहन गंभीर पर्यावरणीय संकट का रूप ले चुका है। पेड़ों की कटाई, अवैध लकड़ी उद्योग और बढ़ती कृषि भूमि की मांग ने जंगलों को कम कर दिया है, जिससे मिट्टी की स्थिरता खतरे में पड़ गई है। पहाड़ी ढालों पर वृक्षों की कमी के कारण वर्षा के समय भू-क्षरण और भूस्खलन की घटनाएँ बढ़ रही हैं, जो न केवल स्थानीय समुदायों के जीवन और कृषि को प्रभावित करती हैं, बल्कि सड़कें, घर और अन्य बुनियादी संरचनाएँ भी जोखिम में पड़ती हैं। वनों के दोहन से जलवायु पर प्रभाव और जैव-विविधता की कमी भी बढ़ती है, क्योंकि वन न केवल कार्बन अवशोषक हैं, बल्कि अनेक जीवों का प्राकृतिक आवास भी प्रदान करते हैं।

ग्लेशियरों का तीव्र पिघलना:

उत्तराखंड के हिमालयी क्षेत्रों में ग्लेशियरों का तीव्र पिघलना एक गंभीर जलवायु संकट का संकेत है। तापमान में लगातार वृद्धि और औद्योगिक प्रदूषण के कारण हिम क्षेत्रों में बर्फ तेजी से पिघल रही है, जिससे नदियों का प्रवाह असंतुलित हो गया है। इससे न केवल बाढ़ और भूस्खलन जैसी आपदाओं का खतरा बढ़ता है, बल्कि नदियों में पानी का अस्थायी अधिशेष और बाद में कमी आने से सिंचाई और पेयजल आपूर्ति प्रभावित होती है। ग्लेशियरों के पिघलने से पारिस्थितिक तंत्र असंतुलित होता है और हिमालयी जैव-विविधता पर भी गंभीर प्रभाव पड़ता है।

जलस्रोतों का सूखना:

उत्तराखंड में जलस्रोतों का सूखना भी एक गंभीर पर्यावरणीय समस्या बन चुका है। ग्लेशियरों के पिघलने के साथ-साथ वर्षा के असंतुलित पैटर्न, भूमि क्षरण और अवैध जल उपयोग ने नदियों, झरनों और तालाबों को प्रभावित किया है। इससे स्थानीय ग्रामीण और पहाड़ी समुदायों को पीने का पानी, सिंचाई और पशुपालन में कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। जलस्रोतों के सूखने से मिट्टी की उपजाऊ क्षमता भी घटती है और पारिस्थितिक संतुलन में असंतुलन पैदा होता है।

जैव-विविधता में कमी:

उत्तराखंड की जैव-विविधता में कमी भी एक गंभीर चुनौती है। वनों की कटाई, पर्यावरणीय प्रदूषण, शिकार और पर्यटन गतिविधियों के कारण कई पौधों और जीव-जंतुओं की प्रजातियाँ खतरे में हैं। हिमालयी क्षेत्रों में अनेक दुर्लभ और एन्डेमिक प्रजातियाँ पाई जाती हैं, जिनका आवास असंतुलित होने से विलुप्त होने का खतरा बढ़ रहा है। जैव-विविधता में कमी पारिस्थितिक तंत्र की स्थिरता को प्रभावित करती है, क्योंकि हर प्रजाति का आपसी संबंध और प्राकृतिक संतुलन बनाए रखने में अहम भूमिका होती है।

वनाग्नि का प्रभाव:

वनाग्नि का उत्तराखंड की जैव विविधता पर गंभीर और प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, क्योंकि यह राज्य हिमालयी पारिस्थितिकी तंत्र का संवेदनशील भाग है जहाँ घने चीड़, बांज, देवदार और बुरांश जैसे वन पाए जाते हैं। वनाग्नि के कारण इन वनों की बहुमूल्य वनस्पतियाँ, औषधीय पौधे और स्थानिक प्रजातियाँ नष्ट हो जाती हैं, जिससे जैव विविधता में भारी कमी आती है। आग की चपेट में आकर कीट-पतंगे, उभयचर, सरीसृप, पक्षी तथा छोटे स्तनधारी सीधे नष्ट हो जाते हैं, जबकि कस्तूरी मृग, हिमालयी काला भालू और घुरल जैसे बड़े वन्यजीवों का आवास और भोजन स्रोत नष्ट होने से उनका पलायन बढ़ता है तथा मानव-वन्यजीव संघर्ष की घटनाएँ बढ़ती हैं। वनाग्नि से मिट्टी की ऊपरी परत जलकर कमजोर हो जाती है, जिससे मृदा अपरदन, भूस्खलन और जलस्रोतों के सूखने की समस्या बढ़ती है, जो आगे चलकर पूरे हिमालयी पारिस्थितिकी संतुलन को प्रभावित करती है। इस प्रकार, बार-बार लगने वाली वनाग्नियाँ उत्तराखंड की विशिष्ट जैव विविधता, पारिस्थितिक स्थिरता और प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण के लिए एक गंभीर चुनौती बन गई हैं।

पर्यटन और सड़क निर्माण से पारिस्थितिक असंतुलन

उत्तराखंड में बढ़ते पर्यटन और सड़क निर्माण ने पारिस्थितिक असंतुलन को बढ़ावा दिया है। पर्वतीय इलाकों में अवैध निर्माण, बड़े-बड़े होटलों और रिसॉर्ट्स का विकास तथा सड़कों का विस्तार प्राकृतिक जंगलों और हरे-भरे क्षेत्रों को नुकसान पहुँचाता है। इससे मिट्टी का क्षरण, जलस्रोतों का दूषित होना और वन्यजीवों का आवास प्रभावित होता है। अत्यधिक पर्यटन से कचरे का संचय और ध्वनि, वायु प्रदूषण भी बढ़ता है, जिससे पारिस्थितिक तंत्र में असंतुलन पैदा होता है और स्थानीय जीवनशैली तथा जैव-विविधता दोनों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। इन समस्याओं के समाधान हेतु केवल वैज्ञानिक नीति पर्याप्त नहीं; पारंपरिक ज्ञान, स्थानीय समुदायों की भागीदारी और नैतिक दृष्टिकोण का समन्वय अनिवार्य है।

निष्कर्ष

भारतीय ज्ञान परंपरा प्रकृति के प्रति श्रद्धा, सह-अस्तित्व और संतुलन की भावना पर आधारित है, जो आज के पर्यावरणीय संकटों में भी अत्यंत प्रासंगिक सिद्ध होती है। उत्तराखण्ड का सांस्कृतिक अनुभव इस परंपरा का सजीव उदाहरण प्रस्तुत करता है, जहाँ के लोकाचार, पर्व-त्योहार और जीवन-पद्धति पर्यावरणीय संतुलन को जीवन-मूल्य के रूप में स्वीकार करते हैं। चिपको आन्दोलन ने यह स्पष्ट कर दिया कि जब स्थानीय समुदाय अपनी सांस्कृतिक चेतना और पारंपरिक ज्ञान के आधार पर सक्रिय होते हैं, तो यह केवल पर्यावरण संरक्षण का साधन नहीं, बल्कि सशक्त जन आंदोलन का रूप भी ले सकता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि:

1) भारतीय ज्ञान परंपरा में निहित पारिस्थितिक मूल्य आधुनिक पर्यावरण नीति और निर्णय निर्माण का नैतिक आधार बन सकते हैं।
2) उत्तराखण्ड जैसे संवेदनशील हिमालयी क्षेत्रों में स्थानीय पारंपरिक ज्ञान को आधुनिक वैज्ञानिक प्रबंधन और तकनीकी उपायों के साथ जोड़ना सतत विकास के लिए अनिवार्य है।
3) शिक्षा, लोक-संवेदना और सामुदायिक भागीदारी के माध्यम से जैव-विविधता संरक्षण की भारतीय मॉडलिंग विश्व स्तर पर वैकल्पिक और टिकाऊ पर्यावरणीय दृष्टि प्रदान कर सकती है।
4) स्थानीय ग्रामीणों, वन पंचायतों और स्वयंसेवी संगठनों को वन संरक्षण व आग रोकथाम में सक्रिय रूप से शामिल करना।

इस प्रकार, भारतीय परंपरा और आधुनिक विज्ञान का समन्वय न केवल पर्यावरणीय संरक्षण की दिशा में मार्गदर्शन करता है, बल्कि हिमालय जैसे संवेदनशील क्षेत्रों में स्थायी विकास और जैव-विविधता के संरक्षण के लिए प्रेरक मॉडल भी प्रस्तुत करता है। अतः भारतीय ज्ञान परंपरा केवल अतीत की धरोहर नहीं, बल्कि भविष्य की पर्यावरणीय स्थिरता का दार्शनिक मार्गदर्शन भी है।

REFERENCES

Baldia, K. S. (1994). Himalaya in Crisis (संकट में हिमालय).

Bisht, H. (2015). Uttarakhand: Study of Culture and Society (उत्तराखंड: संस्कृति और समाज का अध्ययन).

Bisht, R. S. (2014). Traditional Agriculture and Water Conservation Techniques of Uttarakhand (उत्तराखंड की पारंपरिक कृषि और जल संरक्षण तकनीक). Indian Geographical Research Journal, 22(3).

Chatak, G. (1990). Context of Indian folk Culture: Middle Himalaya (भारतीय लोक संस्कृति का संदर्भ: मध्य हिमालय).

Devesh. (1998). Result of Human Interference: Destructive Behavior of Nature (मानवीय छेड़छाड़ का नतीजा: प्रकृति का विध्वंसक मिजाज). Amar Ujala, July 5.

Gadkoti, M. C. (2017). Devbhoomi Uttarakhand: Harmony of Culture, Society and Nature (देवभूमि उत्तराखंड: संस्कृति, समाज और प्रकृति का समन्वय).

Naithani, S. P. (1982). Culture, Literature and Tourism of Uttarakhand (उत्तराखंड की संस्कृति, साहित्य और पर्यटन).

Nautiyal, A. (1996). Character of Pilgrimage and the Future of Ganga (तीर्थाटन का चरित्र गंगा का भविष्य). Parvatvani, August–December.

Nautiyal, P. (1992). Who is the Real Claimant of the Forest? (जंगल का असली दावेदार कौन?). Parvatvani, September 15–30.

Nautiyal, S. (1991). Forest Resources and Environment of Garhwal (गढ़वाल की वन सम्पदा और पर्यावरण).

Nautiyal, S. (1991). Forest Resources and Environment of Garhwal (गढ़वाल की वन सम्पदा और पर्यावरण).

Nautiyal, S. (1994). Wildlife Sanctuaries of India (भारत के वन्य जीव विहार).

Nautiyal, S. (2018). Himalaya and Ecology: A Cultural Study (हिमालय और पारिस्थितिकी: एक सांस्कृतिक अध्ययन).

Negi, B. S. (2007). Folk art and Architecture of Uttarakhand (उत्तराखंड की लोककला और स्थापत्य).

Negi, B. S. (2020). Folk Faith and Traditional Ecology Model of Uttarakhand (लोक आस्था और पारंपरिक पारिस्थितिकी का उत्तराखंड मॉडल).

Negi, P. S. (1988). Sources of Energy in India, Conservation and Development (भारत में ऊर्जा के स्रोत, संरक्षण और विकास).

Negi, P. S. (1994). Uttarakhand Himalaya: Causes and Remedies of Deforestation (उत्तराखण्ड हिमालय: वन विनाश कारण और उपाय).

Raghuvanshi, A. and Raghuvanshi, C. (1989). Environment and Pollution (पर्यावरण और प्रदूषण).

Rawat, A. S. (1992). The Forest Problem in Kumaun: Forest Problem and National Uprising in the Himalayan Region.
Rawat, D. S. (2012). Folk Languages of Uttarakhand and their Cultural Expression (उत्तराखंड की लोक भाषाएँ और उनकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति).
Saklani, H. C. (2012). Disasters and Environmental Challenges of Uttarakhand (उत्तराखंड की आपदाएँ और पर्यावरणीय चुनौतियाँ).
Sarala Devi. (1991). Conservation and Destruction (संरक्षण एवं विनाश).
Shah, P. (2017). Folk Faith and Deity Traditions: An Analysis of Uttarakhand (लोक आस्था और देवी-देवता परंपरा: उत्तराखंड का विश्लेषण). Indian Journal of Sociology, 30.
Sharma, A. (Ed.). (1991). Environment and Forest Conservation: Problems and Solutions (पर्यावरण और वन संरक्षण: समस्या एवं समाधान).
Sharma, R. (2018). Climate Change and Social Justice (जलवायु परिवर्तन और सामाजिक न्याय). Journal of Environmental Studies, 12(3).
Shiva, V. (1991). Ecology and the Politics of Survival: Conflicts Over Natural Resources in India.
Tiwari, M. (2015). Environmental Crisis and Policies in Uttarakhand (उत्तराखंड में पर्यावरणीय संकट और नीतियाँ).
Trivedi, G. S. and Agrawal, A. (1989). Forests and Trees in Mahabharata (महाभारत के वन और वृक्ष).
Venkateswaran, S. (1995). Environment, Development and the Gender Gap.